ISSN: ISSN: 2583-5149 | Special Edition Vol. 2 | March 2026

मानवीय संवेदनाओं से जनित कर्तव्याकर्तव्य का अन्तर्द्वद्व एवं श्रीमद्भगवद्गीता

डॉ० विश्वजीत कुमार 'विद्यालंकार'
सहायक प्राध्यापक सह विभागाध्यक्ष
संस्कृत विभाग, आर० डी० & डी० जे० कॉलेज
मुंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर

शोध-सार

परमपिता परमेश्वर की नित्य एवं दृढ़तापूर्ण अनुशासन से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गतिशील है। सृष्टि उत्पत्ति से ही इस अलौकिक शक्ति से संसरीत संसार की नानाविध गतिविधियों को मनुष्यों द्वारा ईश्वरीय लीला या नियति की संज्ञा दी जाती है। मनुष्य जन्म से पूर्व गर्भावस्था में ही संवेदनाओं से युक्त हो जाता है, जिसकी अनुभूति से आनन्दित होने का सौभाग्य उसकी गर्भिणी माँ को प्रायः पाँचवें माह से प्राप्त होने लगता है। जन्म से ही शिशु सांसारिक जीवन की प्रायः सभी संवेदनशीलताओं यथा- सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, मोह-माया, भूख-प्यास, काम-क्रोध, लाभ-हानि, प्रेम-घृणा, भय-निर्भीकता आदि को भलीभाँति अनुभूत करता है। जैसे-जैसे उसका विकास होते जाता है, वह लोकानुकूल वातावरण के साथ अपनी संवेदनाओं का सामंजस्य स्थापित करने लगता है। इस स्थिति में जिसे कुशलता प्राप्त हो गई उसे ही लोक में मानसिक रूप से सशक्त कहा जाता है। जो लोकानुकूल कर्तव्यों के अनुरूप अपनी संवेदनाओं को स्थापित करने में सशंकित हो जाता है, विवेकपूर्वक निर्णय लेने की स्थिति में नहीं रहता अथवा हमेशा कर्तव्याकर्तव्य के द्वन्द्व के भँवर में उलझ जाता है। ऐसा प्रत्येक मानव चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, शिशु हो या किशोर, युवा हो या वृद्ध; ये सभी के सभी आज के समय में अपने जीवनरूपी कुरुक्षेत्र के मोहग्रस्त अर्जुन हैं। ऐसे मनुष्यों के संवेदना जनित कर्तव्याकर्तव्य के अंतर्द्वद्व के निदान के नानाविध मार्ग भारतीय संस्कृति में अथवा अन्य संस्कृतियों के ज्ञानकोश में विद्यमान हैं, किन्तु श्रीमद्भगवद्गीता इसके लिए ब्रह्मास्त्र सदृश है। इसमें योगीराज श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को प्रदत्त उपदेश समस्त संसार के मनुष्यों को कर्म के वास्तविक स्वरूप की तत्त्विक विवेचना प्रस्तुत करता है। गीता के तृतीय अध्याय के परिपेक्ष्य में मानवीय संवेदनाओं की समीक्षा करते हुए जीवन के विविध परिस्थितियों में कर्म करने के विवेकविवेक का निर्णय करने का प्रयास किया जाएगा। जिसमें प्रमुखता से कर्मयोग, कर्म सिद्धान्त, स्वधर्म, इन्द्रिय निग्रह, पारिवारिक-सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्व पर समीक्षा की जाएगी।

मुख्य शब्द- *संवेदना, कर्तव्याकर्तव्य, अन्तर्द्वन्द्व, कर्मयोग, विरक्त, भक्ति, समत्व, नित्यता, अमरता, शाश्वत, मोह*

मनुष्य मननशील प्राणी होता है एवं उसकी संवेदना नैसर्गिक होती है। मानवीय संवेदनाओं का सीधा सम्बन्ध उसकी भावनाओं से जुड़ा रहता है। समस्त सांसारिक भावनाओं का विनिर्माण इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष वा अनुभूत विषयों के कारण होता है। मनुष्य के प्रत्येक कर्म करने में उसकी भावनाएँ निहित रहती हैं। कर्म करने में अपेक्षित क्रियाशीलता, उत्साह, नैरन्तर्य, पुरुषार्थ आदि के निर्धारण में मानवीय संवेदनाओं का सीधा प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि एक कुशल चित्रकार अपनी व्यक्तिगत दुःख की वेला में अपनी उस चित्रकला को भूल जाता है जो उसकी उंगलियों से उकेरी जाती है। एक संगीतज्ञ धनहानि जैसे दुःख के कारण अपनी राग अलाप नहीं पाता; जबकि धनहानि का उसके गले से कोई सम्बन्ध नहीं है। पारिवारिक जनों के साथ वैमनस्य के कारण उत्पन्न संघर्ष से जनित पीड़ा के कारण एक अध्यापक, कर्मचारी, व्यापारी अपने अध्यवसाय में त्रुटियाँ करने लगता है। जबकि चित्रकार, संगीतकार, अध्यापक, कर्मचारी वा व्यापारी के कार्यों को सम्पन्न करने हेतु उनका कौशल उनके पास ही रहता है, लेकिन वे अपने कार्य में उचित परिणाम नहीं दे पाते हैं। शकुन्तला सशरीर एवं समस्त इन्द्रियों सहित पूर्णतः स्वस्थ्य एवं सकुशल थी, लेकिन दुष्यन्त के वियोग के कारण महर्षि दुर्वासा के अनुनय भरे वचनों का श्रवण नहीं कर सकी और शापग्रस्त होकर असहनीय पीड़ा की भुक्तभोगी बनकर राजमहल के वैभव से दूर प्रतिपल प्रेमालाप के क्षणों को कोसती रही।[1]

मानवीय संवेदना का अर्थ है - मनुष्य के भीतर उत्पन्न होने वाली भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ, जो दूसरों के सुख-दुःख से जुड़ी होती हैं। करुणा, सहानुभूति, दया, प्रेम, त्याग और सहिष्णुता जैसे गुण मानवीय संवेदना के सकारात्मक रूप हैं। भारतीय संस्कृति में संवेदनशीलता को मानवता का मूल गुण माना गया है। उपनिषदों और अन्य दार्शनिक ग्रंथों में भी यह विचार मिलता है कि मनुष्य की श्रेष्ठता उसके संवेदनात्मक और नैतिक गुणों में निहित है।

किन्तु कभी-कभी यही संवेदनाएँ मोह, आसक्ति और अज्ञान के कारण व्यक्ति को कर्तव्य से विमुख कर देती हैं। इस स्थिति में व्यक्ति सही निर्णय लेने में असमर्थ हो जाता है। गीता में अर्जुन की स्थिति इसी प्रकार की मानसिक और भावनात्मक दुविधा का प्रतिनिधित्व करती है।

वस्तुतः मानवीय संवेदनाएँ उसके प्रत्येक कर्म को प्रभावित करती हैं। इसके प्रभाव से रहित होकर कार्य करना एक सामान्य मनुष्य के लिए तो सर्वथा ही असम्भव है। एक शिशु जैसे-जैसे वृद्धि को प्राप्त करता है वह अपनी माँ के स्पर्श एवं उसके भावनात्मक गतिविधियों को उसके चेहरे को देखकर ही समझने लगता है। माँ के खिन्न होने पर उसका रोना एवं माँ के प्रसन्न होने पर उसका हँसना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। क्रमशः परिवार के अन्य सदस्यों की भावनाओं को समझकर ही शिशु अपनी गतिविधियाँ करता है। इसीलिए मनोवैज्ञानिक शिशु के लालन-पालन में; उसके परिजनों के दैनिकचर्या एवं उनकी अहर्निश की शारीरिक एवं मानसिक समस्त गतिविधियों में नकारात्मकता का सदैव निषेध करते हैं, ताकि उससे उनके बच्चे पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। शैशवावस्था से लेकर मरणासन्न होने तक व्यक्ति के अन्तःकरण में उपजी भावनाओं से प्रभावित हुए बिना उसका कोई भी कर्म सम्पन्न नहीं हो पाता है। इसीलिए किसी विद्यार्थी को परीक्षा के दौरान घर में घटित किसी भी छोटी या बड़ी समस्याओं से सदैव दूर रखा जाता है, ताकि अन्यमनस्क होने से उसके अध्ययन पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। ऐसे ही सेना के जवानों को युद्ध के समय उसके पारिवारिक वा सामाजिक परिस्थितियाँ छुपा ली जाती हैं ताकि इसे राष्ट्ररक्षा के कर्तव्याकर्तव्य में शिथिलता वा व्यवधान न उत्पन्न होवें। मैच में प्रतिभाग करते खिलाड़ी या मार्ग पर ड्राइव करते चालक के एकाग्रता के लिए आवश्यक होता है कि उसकी परिधि में होने वाले अनावश्यक कोलाहल वा सामने वाले की ओर से उत्पन्न व्यवधान-रुपी भावनाओं से प्रभावित नहीं होना होता है; अन्यथा वे अपने लक्ष्य से पहले ही भटक जाएँगे अथवा दुर्घटनाग्रस्त होकर असफलता के भागी बनेंगे। जन्म लेने के बाद से ही इन्द्रियों से अनुभूत

[1] विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा तपोधने वेत्ति न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स चोधितोऽपि सन्कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4/1

प्रत्येक विषयों की स्मृतियाँ हमारे चित्त में सदैव संचित रहती हैं, जिसके कारण उससे सम्बन्धित भावों के स्पर्शमात्र से ही हमारी भावनाएँ बलवती होकर हमें हमारे कर्मों से भटकाने लगती हैं। भवनाओं के अधीन होकर मानव या तो स्वधर्म रुपी कर्तव्य से च्युत हो जाता है अथवा कर्म करना ही छोड़ देता है। दोनों ही स्थितियों में हमें सर्वथा सावधानी बरतनी चाहिए।

कृष्ण कहते हैं कि निःसंदेह; कोई भी मनुष्य किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता क्योंकि मनुष्य समुदाय प्रकृति जनित गुणों द्वारा परवश हुआ कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।[2] किन्तु जब भी वह अपने कर्म को करता है तो उसके प्रति उसकी सवेदनशील चेष्टाएँ उसके मन में स्थित भावनाओं के अनुरूप ही सकारात्मकता वा नकारात्मकता की स्थिति को धारण करती है। इन्द्रियाँ सदैव अपने विषयों की ओर स्वतः ही क्रियाशील होती हैं, जिसका नियत्रण मन के अधीन रहता है। मन का चञ्चल स्वभाव हमेशा ही सक्रियतापूर्वक विषयों के प्रति भागमभाग की स्थिति में रहती हैं, पुनश्च इसपर नियन्त्रण चित्त में अवस्थित वृत्तियों से ही किया जा सकता है।

युद्ध के लिए सज्ज होकर, सम्पूर्ण योजनाओं के साथ, कुरुक्षेत्र में उपस्थित अर्जुन का युद्ध से मोहभंग होना एक सामान्य-सी घटना नहीं थी। बाल्यकाल से युवावस्था तक कौरवों द्वारा बारम्बार अपमानित होना, तेरह वर्षों तक वनवास की वेदना भोगना, समर्थ होने पर भी याचक बनकर अपनी माता एवं पत्नी के साथ पाण्डवों का दुखपूर्वक जीवनयापन करना तथा लाह-गृह की दुर्घटना एवं चीरहरण जैसी मर्यादाविहीन दुष्कर्मों से पीड़ित द्रौपदी के उलाहना भरे वचनों को बारम्बार सुनना के बाद श्रीकृष्ण जैसे नीतिज्ञ सखा के मार्गदर्शन में ही अन्ततः धर्मयुद्ध की योजना बनीं थी। इसके नायक भी स्वयं अर्जुन ही थे, समस्त पाण्डवों एवं उनकी सेना की आशा एवं विजय के प्रतीक भी। इस तथ्य से अनभिज्ञ थे अर्जुन ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्होंने स्वयं ही कहा था कि हे केशव! युद्ध से पहले दोनों सेनाओं का निरीक्षण करना चाहता हूँ। लेकिन अचानक उनके चित्त में अवस्थित भीष्मपितामह का वात्सल्यमयी नेहरुपी भावनाएँ, कौरवों के प्रति भ्रातृत्व की भावना, परिजनों का अनुपम प्रेम की भावनाएँ, सैनिकों के मृत्यु के बाद उनके परिजनों के अनिश्चित भविष्य की काल्पनिक भावनाएँ जब अर्जुन के मनोमस्तिष्क में बलवती होने लगीं; तब युद्ध का नायक होकर भी उस क्षत्रिय को अपने स्वधर्म का पालन करना भी अनुचित लगने लगा।[3] संसार का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर एक निरीह मनुष्य बन गया, जिसे युद्ध के प्रति ऐसी अरुचि हो गयी कि उसे क्षात्र धर्म से उचित मृत्यु का वरण प्रतीत होने लगा था। जिस युद्ध की योजना का निर्माणकर्ता मुख्यतः अर्जुन ही था, उसे ही कुरुक्षेत्र का युद्ध व्यर्थ प्रतीत होने लगता है, यह सब अर्जुन की तत्कालीन भावनाओं से उपजा कर्तव्याकर्तव्य का अन्तर्द्वन्द्व ही था।

उस समय वहाँ जब हस्तिनापुर के साम्राज्य की प्राप्ति के लिए संकल्पित धर्मयुद्ध की; मात्र कौरव और पाण्डवों की सेनाएँ ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष से ग्यारह अक्षौहिणी सेनाएँ एकत्रित होकर मात्र रणभेरी की प्रतीक्षा कर रही थी, वहाँ परिजनों के मोहमाया से उपजी अनावश्यक भावनाओं के सागर में निमग्न अर्जुन को परिवार और कर्तव्य में से परिवार की अत्यधिक चिन्ता सताने लगी थी। वे कहते हैं कि हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न ही राज्य और सुखों की इच्छा करता हूँ, हे गोविंद! हमें ऐसे राज्य, सुख अथवा इस जीवन से भी क्या लाभ होगा? जिनके साथ हमें राज्य आदि सुखों को भोगने की इच्छा हैं, जब वह ही अपने जीवन के सभी सुखों को त्याग करके इस युद्ध भूमि में खड़े हैं।[4]

मानवीय चित्त में अवस्थित भावनाएँ अत्यन्त ही बलवती होती हैं, जिसके प्रभाव से बचना दुरूह कर्म है। इसके मायाजाल से घिरकर कर्म के प्रति सनद्ध व्यक्ति, कर्म की पूर्णता के अन्तिम क्षणों में भी, सबकी आशाओं के विपरीत अविश्वसनीय ढंग से अपने कर्तव्य

---

[2] न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मवृत्। कार्यते ह्यायशः कर्म सर्वः प्रकृतिनैर्गुणैः॥ श्रीमद्भगवद्गीता 3.5

[3] निमितानि च पश्यामि विपरीतानि केशव। न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्या स्वजनमाहये श्रीमद्भगवद्गीता 1.31 ॥

[4] न काङ्क्षे चिजयं कृष्णा न च राज्ये सुखानि च। कि नो राज्येन गोविंद किं भोगैजीवितेन वा ॥
येषामर्थे काडक्षित नो राज्ये भोगाः सुखानि च। त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यत्तत्वा धनानि च ॥ श्रीमद्भगवद्गीता 1.32-33

से च्युत हो जाता है। भावनाओं के सागर में डूबकर वह अपने विवेक को खो देता है। कर्मों के प्रति उसका लगाव समाप्त होकर उसे ऐसा निष्क्रिय बना देता है कि उसका शुभचिन्तक भी उसके प्रति कठोर होने को विवश हो जाता है। यथा कुरुक्षेत्र में अर्जुन की मोहग्रत स्थिति योगीराज कृष्ण को भी उद्वेलित्त कर देती हैं जब उन्हें यह कहने को विवश होना पड़ता है कि हे अर्जुन! तुममें यह नपुंसकता अनायास कहाँ से आ गयीं ![5] मानव जीवन में संवेदना का विशेष महत्त्व है। मनोवैज्ञानिक आधार पर मानव के मन एवं मस्तिष्क दोनों से संवेदना का चिर सम्बन्ध है। हम सभी कभी न कभी संवेदना के भावों से सराबोर अवश्य होते हैं जिसकी अनुभूति करने की सहजता सबमें रहती है। जब मानव मन स्वार्थ के भावों से भर जाता है तब उसे किसी के प्रति संवेदना का एहसास नहीं होता। स्वार्थ मानव मन को क्लेश, स्पर्धा व अहं भावों से परिपूर्ण कर देता है तब करुणा, दया व प्रेम के भावों के लिए स्थान ही नहीं रहता। जहाँ सद्भावना होगी वहाँ तालमेल स्वस्थ बनता और निभता चला जाता है। इसी कारण आनन्द में रहते हैं क्योंकि उनमें पारस्परिक प्रेम एवं सद्भाव से रहते हैं। सद्भाव के अभाव से पनपते स्वार्थ और दो प्रतिद्वंद्वी स्वार्थों के टकराव से वैमनस्य बनते हैं।

इस संसार में प्रत्येक मनुष्य के समक्ष नियमित रूप से कर्तव्याकर्तव्य के द्वन्द्व की स्थिति आती रहती हैं। बाल्यकाल में पढ़ाई करने हेतु क्रीडा करने पर रोकटोक करने पर, अतिथियों वा परिजनों के समक्ष उनको अनुशासित रहने वा रुग्णावस्था में उनके रुचिकर भोज्य पदार्थों के सेवन से बारम्बार निषेध करने पर बच्चों की भावनाएँ कर्तव्याकर्तव्य के भंवर में फंसकर उसके स्वभाव को उदण्ड बना देती है। उस बालमन के भावनात्मक अन्तर्द्वन्द्व को नियत्रित करने में कुशल अभिभावक बच्चों को दृढ़ संकल्प वाला बनाते हैं, जबकि इसमें असफल अभिभावक बच्चों को जिद्दी वा भीरु वा अनुशासनहीन वा उत्तेजक बना देते हैं। तथैव युवक वा प्रौढ़ वा वृद्ध भी दैनिकचर्या में अनायास आगत कष्ट वा बाधाओं (यथा-नौकरीपेशा को प्रायोजित कर्म हेतु अवकाश न मिलना, किसी परीक्षा में वा व्यापार में असफल हो जाना वा यथेष्ट फल प्राप्त न होना, आश्रित जनों से अकारण आर्थिक सहयोग न मिलना आदि) के आते ही हम अपने नियमित नित्यकर्म स्नान, ध्यान, भोजन तक का त्याग कर अपनी समस्याओं के समक्ष समर्पण कर उसे और अधिक बलशाली बना देते हैं।

कई बार यह जानते हुए भी कि मेरे द्वारा किया जा रहा कार्य अनुचित एवं अनुपयोगी है; हम उसके प्रति विमुख तब तक नहीं हो पाते जब तक हमारा सर्वनाश नहीं हो जाता। इसके लिए ही श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो मूढ़ बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियों को हठपूर्वक ऊपर से रोककर मन से उन इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात दम्भी कहा जाता है।[6] किन्तु जो मनुष्य अपनी भावनाओं के आवेग में स्वयं को स्थिर रखते हुए अपने कर्तव्यपथ से विचलित नहीं होता है, अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल होता है। गीता में कृष्ण भी अर्जुन से कहते हैं कि, जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियों द्वारा कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है।[7] किन्तु संसाधनों की कमी, परिजनों की उलाहना वा उपेक्षा, सहयोगियों का असहयोग, बारम्बार असफलता की स्थिति में हम स्वयं को भाग्यहीन वा अपना प्रारब्ध मानकर अपने कर्तव्य को छोड़ देते हैं और अपने मूल्यवान जीवन के सम्भावित सुखों को भी पश्चाताप की अग्नि में भस्म कर देते हैं। हम सभी यह जानते हैं कि यदि जीवित हैं तो कर्मशील रहना ही होगा पुनश्च अपने कर्तव्यों की तिलांजलि देकर अपार कष्ट के भुक्तभोगी बनते हैं। इसीलिए गीता में कहा गया है कि तू शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्म कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा।[8] वैसे भी यदि इस संसार में यदि जीवित रहना है तो हमें कर्मशील रहना ही चाहिए ऐसा वेदों में भी कहा गया है।[9]

---

[5] कुतस्त्वा कामलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ण्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ श्रीमद्भगवद्गीता 2.2 ॥

[6] कर्मेन्द्रियाणि संयम्य व आस्ते मनसा स्मरन्। इन्द्रियार्यान्विमुद्रात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ श्रीमद्भगवग्रीता 3.6.8

[7] यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्वारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ श्रीमद्भगवद्रीता 3.7

[8] नियत कुरु कर्म व कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ श्रीमद्भगवद्रीता 3.8

[9] कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्शतं समाः।। यजुर्वेद 40.2 ।।

श्रीकृष्ण भी गीता में कहते हैं कि, हे पार्थ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार परम्परा से प्रचलित सृष्टिचक्र के अनुकूल कार्य नहीं करता अर्थात् अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता, वह इन्द्रियों द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।[10] परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही रमण करने वाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो, उसके लिए कोई कर्तव्य नहीं है।[11] इस विश्व में न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियों में भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता।[12]

कृष्ण का मोहग्रस्त अर्जुन को तृतीय अध्याय में यही सन्देश है कि, लोकानुराग से जन्मी एवं चित्त में संचित भावनाओं से प्रभावित हुए बिना अपने स्वधर्म के प्रति सदैव सचेत एवं कृतसंकल्पित रहना चाहिए। इसलिए तू निरन्तर आसक्ति से रहित होकर सदा कर्तव्यकर्म को भलीभाँति करता रह क्योंकि आसक्ति से रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। मिथिलापति विदेहराज जनक जैसे ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे, इसलिए हम सभी मनुष्यों को लोकसंग्रह एवं आस्था को देखते हुए सदैव कर्म करने के ही योग्य हैं अर्थात् सबको सभी परिस्थितियों में कर्म करना ही उचित रहना है, तभी जीवन में सुख एवं शान्ति की अवाप्ति सम्भव हो सकता है।[13] श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसी के अनुसार व्यवहार करने लग जाता है।

उत्तर वैदिककाल में अथवा मुगलकाल में श्रीमद्भगवद्गीता को धर्मप्रधान प्रतीक के रूप में स्थापित कर, इसे हिन्दुत्व के पावन-ग्रन्थ का आडम्बर बनाकर इसके ज्ञानामृत पान से आमजनों को वञ्चित कर दिया गया था। धार्मिक आवरण एवं रीति-रिवाजों के बन्धन एवं कर्मकाण्डों की नैतिकता के कारण इसमें निहित मनोवैज्ञानिक ज्ञान-वैभव की पराकाष्ठा से संसार को जितना लाभ प्राप्त होना चाहिए था, उससे लोकसमाज वञ्चित रह गया था। तत्कालीन जो भी अवधारणा परिस्थितिवश उपजी, उससे इसके श्लोकों के प्रति स्वतन्त्र चिन्तन बौद्धिक-स्तर पर न होकर सिर्फ कर्मकाण्ड तक सिमित रह गया था।

श्रीमद्भगवद्गीता केवल धार्मिक या आध्यात्मिक ग्रंथ ही नहीं वरन् जीवन में भटके हुए लोगों को मार्ग दिखानेवाली पुस्तक है , एक मनस शास्त्र है। मनुष्य के मनोविज्ञान की व्याख्या गीता में मौज़ूद है। मनुष्य की उलझनों का
समाधान गीता है। श्रीकृष्ण जब अर्जुन के संशय को दूर कर रहे हैं तो वह मात्र अर्जुन के सवाल ही नहीं हैं, बल्कि मानव मात्र के स वाल हैं।इसीलिए गीता हर वर्ग के इंसान के लिए है, गीता तनाव मुक्त करती है, मनोबल बढ़ा देती है। इसका ज्ञान तब हुआ जब कल-कारखानों से लेकर कंप्यूटर एवं सुचना प्रौद्योगिकी के युग आते-आते मनुष्यों का न केवल शारीरिक अपितु मानसिक एवं आत्मिक क्षमताओं में एक अजीबोगरीब अन्तर्द्वन्द्व का समावेश होता गया। वर्तमान युग में जीवनशैली भागदौड़ वाली हो गयी है, चाहे कोई नौकरीपेशा हो, सेवक हो, व्यापारी हो, गृहिणी हो, विद्यार्थी हो हो चिकित्सक हो, बेरोजगार हो। अगर मनुष्य को जीवित रहना है तो उसे कर्मशील रहना होता है। कर्म करेगा तो उसके क्रियान्वयन की प्रक्रिया से अनेकानेक स्मृतियाँ जन्म लेती हैं। जीवन की स्मृतियाँ अक्सर हमें भावी परिकल्पनाओं एवं अतीत की घटनाओं से प्रभावित करती हैं, जिसका अनुकूल वा प्रतिकूल प्रभाव हमारे कार्यशैली पर पड़ता है। मानवीय संवेदनाओं के आधार पर ही काम-क्रोध-लोभ-मोह-वैमनस्य आदि भावनाएँ उपजती हैं, जो किसी के साथ व्यवहार के स्तर को निर्धारित करती है, यथा स्वप्नवासवदत्तम् में अवन्तिका एवं यौगंधरायण प्रद्मावती के आश्रम में

---

[10] एवं प्रवर्तित चक्रं नानुवर्तवतीह यः। अधापुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ श्रीमद्भगवद्गीता 3.16

[11] परलात्मरतिरत्र स्वादात्मतुमध मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते॥ श्रीमद्भगवद्गीता 3.17

[12] मैव तस्य कृतेनार्थी नाकृतेनेह कञ्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ 3.18॥

[13] तस्मादसत्ताः सततं कार्य कर्म समाचर। असको ह्याचरन्कर्म परमाप्रीति पुरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥
पद्यदाचरति श्रेष्ठस्ततदेवेतरी जनः। स यठप्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ श्रीमद्भगवद्गीता 3.19-21॥

प्रवेश पर उसके लिए निर्धारित राजसी शिष्टाचार से खिन्न होती हैं किन्तु उसका परिचय जानकर कहती हैं- **प्रद्वेषो बहुमानो वा संकल्पादुपजायते।** इसी भांति युद्ध क लिए उद्धत अर्जुन सेनाओं के निरिक्षण करते समय अनायास ही अपनी अतीत की स्मृतियों की संवेदनाओं से उपजी मोह के कारण अपने कर्म के प्रति उदासीन होने लगता है।[14] इतना ही नहीं, जो युद्ध का सेनापति है, जिसने वनवास की कठिनाईयों में कौरवों से धर्मयुद्ध की योजना तैयार की थी, वही अर्जुन अपनी अकर्मण्यता को सत्य सिद्ध करने हेतु न केवल तर्क प्रस्तुत कर रहा है अपितु स्वयं को कामनाओं से रहित मनुष्य के रूप में प्रस्तुत करने का निरर्थक प्रयास कर रहा है, जैसा कि अन्तर्द्वन्द्व में उलझा हरेक व्यक्ति करता है।[15]

प्रत्येक मानव नैसर्गिक रूप से अपने जीवन में निर्णय लेने की क्षमता से युक्त है किन्तु उसकी संवेदनाएँ इतनी शक्तिशाली रहती हैं कि वह अपने स्वधर्म एवं उद्देश्य के महत्त्व के प्रति विवेकहीन हो जाता है। इतना ही नहीं, भावी परिणाम के सापेक्ष संवेदनाओं के भँवर में उलझ जाता है, तो उसे अपनी ही योजनाओं के प्रति संदेह होने लगता है।[16] प्रत्येक कर्म के प्रति उत्पन्न संशय से किसी भी निर्णय को स्वीकार करना या अस्वीकार करना उसके लिए चुनौती बन जाती है, जैसे अर्जुन के लिए कुरुक्षेत्र में बन गयी थी। कर्म से प्राप्त कीर्ति या अकीर्ति के प्रति वह विरतभाव वाला बन जाता है, जिसके प्रति गीता में सजगता उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है।[17]

मानव जीवन मूलतः संवेदनात्मक जीवन है। मनुष्य केवल बुद्धि और तर्क से संचालित प्राणी नहीं है, बल्कि उसकी चेतना में करुणा, प्रेम, दया, भय, मोह, क्रोध, शोक, आशा और निराशा जैसी अनेक भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। इन्हीं भावनाओं के कारण मानव जीवन में संवेदनशीलता उत्पन्न होती है, जो उसे अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ बनाती है। किंतु जब यही संवेदनाएँ असंतुलित हो जाती हैं, तब वे व्यक्ति को मानसिक द्वन्द्व, अस्थिरता और निर्णयहीनता की स्थिति में पहुँचा देती हैं। श्रीकृष्ण अर्जुन को स्वजन के मोहपाश में बंधा देखकर उसे सबसे पहले आत्मा की शाश्वतता का ज्ञान देते हैं। वे बताते हैं कि आत्मा न जन्म लेती है और न ही मरती है। आत्मा की नित्यता का भान कराकर अर्जुन को मानवशरीर की अनित्यता एवं उसके प्रति अत्यधिक आसक्ति की अनावश्यक संभावनाओं का निषेध करते हैं। इस सिद्धान्त का उद्देश्य यह बताना है कि शरीर नश्वर है, जबकि आत्मा अमर और शाश्वत है। जब मनुष्य इस सत्य को समझ लेता है, तब वह मृत्यु या हानि के कारण अत्यधिक शोक नहीं करता।[18] इस प्रकार गीता मानवीय संवेदना को समाप्त नहीं करती, बल्कि उसे ज्ञान के द्वारा परिष्कृत और संतुलित बनाती है।

---

[14] दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।। सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते। न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। श्रीमद्भगवद्गीता २/२८-३०।।

[15] निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव। न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।। न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।। येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च। त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।। आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः । मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन। अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।२/३१-३५।।

[16] अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।।४/४०।।

[17] अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् । सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।।
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः। येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।२/३४-३५।।

18 न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २/२०
देहि नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।२/३०।।

गीता का एक प्रमुख सिद्धान्त **कर्मयोग** है। संवेदनाओं का व्यावहारिक संतुलन करने हेतु श्रीकृष्ण अर्जुन को निष्काम कर्म का उपदेश देते हुए कहते हैं कि मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करने में है, फल की चिंता करने में नहीं। जब व्यक्ति अपने कर्तव्य को निष्काम भाव से करता है, तब वह मानसिक तनाव और भावनात्मक असंतुलन से मुक्त रहता है। फल की चिंता व्यक्ति में भय, लोभ और निराशा उत्पन्न करती है, जबकि निष्काम कर्म मन को शांत और संतुलित बनाता है। इस प्रकार कर्मयोग मानवीय संवेदनाओं को नियंत्रित करने का व्यावहारिक मार्ग प्रदान करता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में मानसिक संतुलन का आदर्श समत्वभाव को दिया गया है, जिसके अभ्यास से मानवीय संवेदनाओं को अपने नियन्त्रण में रखा जा सकता है। उसे ही समत्वभाव को योग की संज्ञा दी गई है- *समत्वं योग उच्यते।* समत्वभाव का अर्थ है जीवन की सभी परिस्थितियों में मानसिक संतुलन बनाए रखना। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि स्थितियों में समान दृष्टि रखना ही समत्वभाव है।[19] यह सिद्धांत आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। आज के तनावपूर्ण जीवन में मानसिक सन्तुलन बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है। गीता का यह सिद्धांत व्यक्ति को भावनात्मक स्थिरता प्रदान करता है।

भक्ति और समर्पण का मार्ग को भी गीता में भक्ति को भी मानवीय संवेदना को शुद्ध करने का महत्वपूर्ण साधन बताया गया है। शोक से सन्तप्त एवं अपनी मोहमाया एवं अनायास आगत अविवेकी स्थिति में अर्जुन को श्रीकृष्ण कहते हैं - *सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अर्थात्* जब मनुष्य ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण भाव अपनाता है, तब उसके मन की चिन्ता और भय समाप्त हो जाते हैं। भक्ति मनुष्य की भावनाओं को सकारात्मक दिशा प्रदान करती है और उसे आंतरिक शांति का अनुभव कराती है। इसीलिए संवेदना से जनित परिस्थियों में भक्ति भी आपके लिए मनोविज्ञान से बढ़कर कार्य करेगी, जैसा कि अर्जुन का उदाहरण हम सबके समक्ष उपस्थित है।

वर्तमान युग में मानव जीवन अनेक प्रकार की समस्याओं से घिरा हुआ है। प्रत्येक मानव अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन में चारों और से मानसिक तनाव, प्रतिस्पर्धा, असुरक्षा और नैतिक संकट का सामना कर रहा है। उसके पास इससे सम्बन्धित ज्ञान की कमी नहीं है न ही इन समस्याओं के समाधान करने के साधनों की। किन्तु इन सभी में से किसे अपनाए और किसे छोड़ दे, इसका निर्णय करना उसके लिए अत्यन्त दुष्कर होता जा रहा है। सोशल मीडिया पर बिखरी हुई अनेकानेक उदाहरणों के समक्ष प्रतिपल उसकी संवेदनाओं में परिवर्तन होता रहता है। ऐसे समय में गीता की शिक्षाएँ सबके लिए अत्यन्त उपयोगी एवं प्रासंगिक सिद्ध हो सकती है, ऐसा एक परिकल्पना नहीं अपितु सुपरिक्षित निदान है। सामान्य शब्दों में कहा जा सकता है कि गीता हमें सिखाती है कि कर्तव्य का पालन निष्काम भाव से करना चाहिए। जीवन की परिस्थितियों में मानसिक संतुलन बनाए रखना चाहिए। आत्मज्ञान और भक्ति के माध्यम से आंतरिक शांति प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार गीता आधुनिक मानव के लिए भी एक प्रभावी मार्गदर्शक ग्रन्थ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मानवीय संवेदना मानव जीवन की स्वाभाविक और आवश्यक विशेषता है, किंतु जब वह मोह और अज्ञान से प्रभावित हो जाती है, तब जीवन में संकट उत्पन्न होता है। **श्रीमद्भगवद्गीता** इन संवेदनाओं को संतुलित करने का अद्भुत मार्ग प्रस्तुत करती है। आत्मज्ञान, कर्मयोग, समत्वभाव और भक्ति के माध्यम से गीता मनुष्य को मानसिक शांति, कर्तव्यनिष्ठा और आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर करती है। इस दृष्टि से गीता केवल धार्मिक ग्रन्थ नहीं अपितु मानवीय संवेदनाओं के संतुलन

19 सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ २/३८

और समाधान का सार्वकालिक दार्शनिक मार्गदर्शक है। इसलिए आज भी गीता की शिक्षाएँ मानव जीवन के लिए उतनी ही प्रासंगिक हैं जितनी प्राचीन काल में थीं।